बौरायी-सी ख़ुशबू और प्रसून जोशी की कबीराई

मिहिर

बीते ना बिताए रैना उर्फ़ इन ना बीतने वाले दिनों और जागती रातों में मेरा पसन्दीदा काम है अटपटे रिश्ते ढूँढना। अपनी ही यादों में बार-बार लौटते हुए मैं एहसासों को जोड़ते हुए कुछ बनाने की कोशिश करता हूँ। कुछ ऐसे सूत्र जो शायद पहले नहीं मिलाए गए। पीछे लौटना कई बार बहुत फ़ायदेमंद साबित होता है ख़ासकर जब बात 'इतिहास' की हो ...।

मैं तब कॉलेज के दूसरे साल में था। कॉलेज और शहर दोनों से ही कुछ-कुछ अपनापा बनने लगा था। नवम्बर-दिसम्बर के महीने आम तौर पर पढ़ाई से इतर कामों जैसे वाद-विवाद, कविता-पाठ, कोलाज प्रतियोगिता और खेल प्रतियोगिताओं के नाम रहते हैं और यही परंपरा हमारे कॉलेज में भी निभायी जाती थी। हिन्दी विभाग का साहित्यिक सप्ताह चल रहा था और उस दिन 'आशु-भाषण' प्रतियोगिता थी। पर्ची पर लिखा एक विषय और चार मिनट सोचने का मौक़ा। और फिर चार मिनट में अपनी बात कहना। मैं काँपता-सा मंच की ओर गया और पर्ची उठायी। लिखा था,

"मन ना रँगाए, रँगाए जोगी कपड़ा"

कबीर बानी सामने देखी तो समझ गया कि ये मेरे बड़े भाई का ही काम है। वैसे भी और कौन ऐसा विषय 'आशु-भाषण' के लिए दे सकता है। वहाँ तो लोग अभी भी 'विज्ञान : वरदान या अभिशाप' में अटके हैं! ख़ैर ...

बात शुरू की द्विवेदी जी से ... कबीर तक पहुँचने का रास्ता वहीं से जाता है, "देख रे, तेरे शास्त्र तुझे धोखा देते हैं। जो तेरे भीतर सत्य है, उसे दबाने को कहते हैं। जो तेरे भीतर मोहन है, उसे भुलाने को कहते हैं। जिसे तू पूजता है उसे छोड़ने को कहते हैं। मायाविनी है यह मायाविनी, तू इसके जाल में ना फँस।"[1]

"... प्रवृत्तियों को दबाना भी नहीं चाहिए और उनसे दबना भी नहीं चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति का देवता अलग होता है। देवता का परिचय शायद प्रवृत्तियाँ ही करती हैं। ... त्रिभुवन मोहिनी ने जिस रूप में तुझे मोह लिया है, उसी रूप की पूजा कर, वही तेरा देवता है।"[2]

और इस उद्धरण को *दूसरी परंपरा की खोज* में याद करते हुए नामवर सिंह एक ख़ास शब्द को

मोटे अक्षरों में दोहराते हैं ...शास्त्र[3]। शास्त्र था वो ज्ञान जो पोथियों में बंद था और जिस पर क़ब्ज़ा था ब्राह्मण वर्ग का। यहाँ शास्त्र के ख़िलाफ़ लड़ी जाने वाली लड़ाई दरअसल लोक-मानस की आवाज़ है। एक ऐसा 'ज्ञान' जो सबको सुलभ नहीं है, ज्ञान नहीं है। कबीर भी 'आँखिन देखी' की बात करते हैं,

"मेरा-तेरा मनुआँ कैसे एक होई रे
मैं कहता हौं आँखिन देखी
तू कहता कागद की लेखी
मैं कहता सुरझावनहारी
तू राख्यौ उरझाई रे"

यहाँ 'तू' वही प्रभुत्वशाली ब्राह्मण वर्ग है जिसके क़ब्ज़े में सारा 'ज्ञान' है। ऐसी 'कागद लेखी' जिसे सिर्फ़ वही पढ़ सकता है। मुद्राराक्षस इस क़ब्ज़े पर लिखते हैं, "सत्ता को सम्मोहित करके उसे स्थायी रूप से ब्रेनवॉश करने के लिए एक चीज़ और ज़रूरी थी : हर तरह की जानकारी, सूचना और ज्ञानराशि पर भी ब्राह्मणों का एकाधिकार। इसके लिए ब्राह्मण ने यह व्यवस्था दी कि ब्रह्मा को जानने का अधिकार केवल ब्राह्मण को है और इस तरह आध्यात्मिकता के हर पक्ष को उसने अपने क़ब्ज़े में रखने का प्रबंध किया। यज्ञों पर तो ब्राह्मणों का एकाधिकार था ही, लिखित किताबों पर भी उसने यह कहकर कि वेद श्रुति हैं एकाधिकार रखा जबकि वेदों की लिखित प्रतियाँ तैयार करने की परंपरा ब्राह्मणों में बहुत प्राचीन है। ... वेद लिखे जाते थे पर श्रुति परंपरा इसीलिए चलायी गयी कि ब्राह्मणों के अलावा किसी के पास यह किताब ना हो।"[4]

इस धर्मसत्ता के ख़िलाफ़ हमेशा एक प्रतिरोध की संस्कृति रही है, जिसकी कबीर आवाज़ बने। और ये प्रतिरोध की संस्कृति दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में उभरी है। प्रभुत्वशाली वर्ग जिसका 'ज्ञान' पर क़ब्ज़ा था, उसके ख़िलाफ़ लोक-मानस की आवाज़ सबसे मुख़र रूप में कहाँ मिलेगी? यक़ीनन लोककथाओं में। यहाँ सबसे प्रासंगिक है मुल्ला नसरूद्दीन के क़िस्से। उनके ऐसे अनेक क़िस्से मिलेंगे जिनमें वो किसी मौलवी या पंडित को अपनी सामान्य तर्क बुद्धि और व्यंग्य की धार से चित्त कर देते हैं। एक छोटा सा क़िस्सा कुछ यूँ है, "एक वरिष्ठ दार्शनिक सराय में बैठकर खेद प्रकट कर रहा था, 'विचित्र जीव है यह मनुष्य। किसी भी चीज़ से उसे तृप्ति नहीं होती। जाड़े में वह कहता है कि मैं ठंड से मरा और गर्मी में कहता है कि गर्मी से प्राण छटपटाता है।'

सभी ने उसकी बात पर हामी भरकर गंभीर रूप से सिर हिलाया।

'वसंत के विरुद्ध जिसको शिकायत है वह हाथ उठाए।' कहा नसरूद्दीन ने।"[5]

लोककथाएँ हमेशा ऐसी कहानियाँ लाती हैं जहाँ एक आम आदमी किसी ज्ञानी पर भारी पड़ता है। कई मायनों में हमारी हिन्दी फ़िल्में भी इसी कहानी को एक नए रूप में बदल-बदलकर पेश करती हैं। 'मोगैम्बो' से अंतिम लड़ाई में हमारा नायक अपना 'चमत्कारी गैजेट' बंद कर लेता है और 'मिस्टर इंडिया' से एक 'आम आदमी' बन जाता है। साहित्य के संदर्भ में ग़ौर करने की बात ये है कि भक्ति काल ही वो समय है जब हमारा साहित्य 'लोक' के सबसे ज़्यादा क़रीब आया था।

शंकराचार्य के 'ब्रह्म सत्य : जगत मिथ्या' को ख़ारिज करते हुए सम्पूर्ण भक्ति आन्दोलन में जीवन का स्वीकार है। सभी जाति-धर्म के कवि इस संसार को छोड़कर हिमालय पर जाने के बजाए इसी संसार में गृहस्थ जीवन बिताते हैं। सुन्दर जीवन ... संघर्षपूर्ण लेकिन सुन्दर या यों कहें कि संघर्षपूर्ण

इसीलिए सुन्दर। और कबीर तो जुलाहा थे, उनका जीवन ही वो उर्वर ज़मीन है जहाँ से ये काव्य-प्रतीक निकल कर आते हैं। 'मन ना रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा' में उस 'ज्ञानी' पंडित पर व्यंग्य है जो अपने मन को रँगाने के बजाए कपड़ा रंगाता है। केवल गेरुए वस्त्र पहन लेने से भगवान नहीं मिलते, उसके लिए मन को भी उस तरफ़ लगाना पड़ता है ये अर्थ सामान्यतया हमने समझा। लेकिन क्या 'मन को रंगाने' का अर्थ सिर्फ़ भगवान की भक्ति ही है? क्या ये 'रँगाना' उन्हीं प्रवृत्तियों का स्वीकार नहीं है जिनका निषेध हमारे शास्त्र करने को कहते हैं? द्विवेदी जी *बाणभट्ट की आत्मकथा* में ऊपर जो कह रहे थे उसका स्रोत भी क्या कबीर ही नहीं हैं? मैं मन को रँगाने को एक व्यापक संदर्भ में ग्रहण करता हूँ और मानता हूँ कि अपने मन की इच्छाओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना दरअसल समाज को बदलने की ओर बढ़ाया गया एक क़दम है।

'मन को रँगाने' का दोस्तों से वादा लेते हुए मैंने अपनी बात ख़त्म की थी। शायद द्वितीय पुरस्कार भी पाया था। 'रात गयी, बात गयी' के अंदाज़ में मैं ये क़िस्सा भूल चुका था कि अचानक एक दिन ...

रंगरेज़ मेरे सब कुछ रँगा दे ... देखिए फिर कबीर को खुर्दबीन से

नाम- प्रसून जोशी

उम्र- यही कोई तीस-पैंतीस के आसपास

पेशा- माने हुए विज्ञापन गुरु और गीतकार

(वैलेंटाइन डे पर न्यूज़ चैनलों के डिस्कशन पैनल में सबसे ज़्यादा 'वॉन्टेड' हस्ती थे!)

जाने जाते हैं 'ठंडा मतलब कोका कोला' से। पंचलाइन उन्हीं की क़लम से निकली है।

... और मुझे फिर कबीर का 'मन ना रंगाए' याद आया! अब हम दिल्ली में थे। अपनी उलझी हुई राहें सुलझाने देश के अलग-अलग कोनों से इस महानगर में आए हम सब। क्रिश्चियन कॉलोनी और विजयनगर के एक के ऊपर एक दड़बेनुमा कमरों में भरी सैकड़ों ज़िन्दगियों के हिस्से। मैं हमेशा कहता हूँ कि ये देश का सबसे घना इलाक़ा है (बौद्धिक घनत्व में)! इतने सारे संभावनाशील दिमाग़ जो शायद चित्रकार हो सकते थे या शायद कमाल के फ़िल्ममेकर। लेकिन सारी संभावनाओं को एक 'आइएएस' नाम की 'बीमारी' खा जाती है। लड़के-लड़कियाँ जो अठारह-अठारह घंटे पढ़ रहे हैं। जिन्हें सुबह की धूप देखे महीनों बीत गए। लोग कहते हैं कि यहाँ से बहुत आइएएस निकले हैं लेकिन वो लड़का जो पेंसिल स्केच बनाने में जीनियस था क्या एक संभावना नहीं था? क्या वो लड़की जो बास्केटबॉल में चैम्पियन थी एक संभावना नहीं थी? क्या ये शहर अब भी एक संभावना है? ख़ैर ...

तो यहाँ थे हम। इसी सबके बीच पर अलग-थलग। मेरे दोस्त कहते हैं कि मेरा कमरा सबसे अच्छा है (उसमें आगे-पीछे दो खिड़कियाँ हैं जो उनकी नज़र में इस दिलफ़रेब दिल्ली में 'अय्याशी' है)! जिसे मैं सबसे ख़राब तरीक़े से रखता हूँ। (मैं अकसर कहता हूँ कि अगर किसी दिन अख़बार में चौथे पेज पर नीचे छोटी-सी ख़बर पढ़ो कि 'दिल्ली विश्वविद्यालय के पास एक कमरे में दो युवक सिर पर किताबें गिरने से मृत पाए गए' तो समझ लेना हम ही थे!) और इसी 'गड्ड-मड्ड से कमरे में प्रसून को सुनते हुए फिर याद आए कबीर।

यहाँ प्रसून जोशी एक ऐसी फ़िल्म का शीर्षक-गीत लिख रहे हैं जो दिल्ली युनिवर्सिटी में पढ़ने वाले पाँच लड़कों की कहानी है। 'गड्डमड्ड' से दिमाग़ वाले पाँच लड़के। जो एक डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म में भगत सिंह, आज़ाद, बिस्मिल, अशफ़ाक और राजगुरु के किरदार निभा रहे हैं। और अचानक फ़िल्म और हक़ीक़त के बीच का फ़र्क़ धुँधलाने लगता है। अचानक वो कुछ सवाल पूछने लगते हैं और कुछ ऐसा समझ जाते हैं जो उन्हें समझना मना था। हमारे 'आज' में भगत सिंह को ढूँढ़ती 'रंग दे बसंती' के शीर्षक गीत में कबीर की गूँज क्यों है? आख़िर वो क्या है जो डीजे को भगतसिंह से जोड़ता है? और भगतसिंह को कबीर से? शायद वो सूत्र है 'नकार का साहस', विद्रोह।

'*लेकिन दरवाज़ा* में नीलांबर कहता है, "विद्रोह इंसान की फ़ितरत है। ... विद्रोही क्या होता है? कामू लिखता है, ऐसा आदमी जो 'नहीं' कहता है, परन्तु जिसके नहीं कहने का तात्पर्य त्याग नहीं है।"[6] शायद इसीलिए नामवर सिंह की *दूसरी परंपरा की खोज* में जो अध्याय द्विवेदी जी की *कबीर* नामक किताब पर आधारित है उसका शीर्षक है 'अस्वीकार का साहस'। प्रसून के गीतों को सुनकर कबीर याद आते हैं। जब प्रसून लिखते हैं,

"अब देर ना कर सचमुच रंग दे
रंगरेज मेरे सब कुछ रंग दे"

तो याद आता है कि कबीर भी बार-बार उस 'रंगरेज़' को याद करते थे। और प्रसून का ये 'बासंती रंग' बनता कैसे है? खुद ही सुनिए,

"थोड़ी सी धूल मेरी
धरती की मेरे वतन की
थोड़ी सी खुशबू बौरायी सी

मस्त पवन की
थोड़ी-सी धौंकने वाली
धक-धक, धक-धक, धक-धक साँसें
जिनमें हो जुनूँ-जुनूँ
वो बूँदे लाल लहू की
ये सब तू मिला-मिला ले
फिर रंग तू खिला-खिला ले
और मोहे तू रंग दे बसंती यारा
मोहे तू रंग दे बसंती"

यहाँ 'धूल' है, मिट्टी नहीं। धूल तो उड़ती है, मिट्टी का गतिशील रूप, विद्रोही रूप! और ख़ुशबू भी यहाँ बौरायी-सी है, वही विद्रोही रूप! 'धौंकनी सी' चलती साँसें हैं और लहू में कुछ कर जाने का जुनून। वही विद्रोह जिसके अलग-अलग रूप ये सब हैं। वही विद्रोह, वही नकार जिसका अर्थ त्याग नहीं होता। 'धौंकनवाली' साँसें और 'बौरायी' सी ख़ुशबू जैसे प्रयोग कम से कम हिन्दी फ़िल्मी गीतों में तो कुछ नया है।

'धौंकनेवाली धक-धक, धक-धक, धक-धक साँसें' याद दिलाती है केदार की कविता,

"हाथी सा बलवान, जहाज़ी हाथों वाला और हुआ
सूरज सा इंसान, तरेरी आँखों वाला और हुआ
एक हथौड़े वाला घर में और हुआ"[7]

यहीं है नयापन। ख़ुशबू, मिट्टी, साँसें तो वहाँ पहले से थी पर ख़ुशबू 'बौरायी' नहीं थी, साँसें 'धौंकनेवाली' नहीं थीं और 'धूल' से सनकर चमकता, गठीला 'जहाज़ी हाथों वाला' बदन नहीं था। यहाँ सारे ही बिम्ब अपने सामान्य रूप से कुछ तेज़ी लिए हैं। गति जो आज की पीढ़ी की पहचान मानी जाती है लेकिन ग़ौर से देखें तो क्या वो हमेशा ही हर नयी पीढ़ी की पहचान नहीं रही! कुछ 'करने लायक, मरने लायक़' उमर की पहचान!

उतार ग़म के मोज़े ... उम्मीद भरा एक स्त्री स्वर

लेकिन मेरी प्रसून जोशी से 'रंग दे बसंती' पहली मुलाक़ात नहीं थी। *फिर मिलेंगे* सिर्फ़ 'एड्स' के प्रति जागरूकता लाने के लिए बनायी फ़िल्म नहीं थी बल्कि मैं तो कहता हूँ कि उसका 'एड्स' से उतना ही लेना-देना था जितना *कल हो ना हो* का दिल के मरीज़ों से। लेकिन *फिर मिलेंगे* को कम लोगों ने देखा और बहुत कम ने समझा।

निजी क्षेत्र के पक्ष में एक बड़ा तर्क यह दिया जाता है कि वहाँ केवल आपकी योग्यता की पूछ है और आपकी व्यक्तिगत पहचान (जाति, धर्म, लिंग आदि) का कोई महत्त्व नहीं। लेकिन ये केवल परदे पर टँगा सच है, असली हक़ीक़त परदे के पीछे है जिसे *फिर मिलेंगे* सामने लाती है। एक लड़की

तमन्ना सिर्फ़ इसीलिए काम से निकाली जाती है क्योंकि वो एचआईवी पॉज़िटिव है। वो तमन्ना जो अपनी फ़ील्ड में नंबर एक थी। यहाँ कारण कोई भी हो सकता है चाहे तो वो किसी का दलित होना हो या फिर स्त्री होना। आपके काम से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण आपकी व्यक्तिगत पहचान कैसे बन जाती है : जानने के लिए *फिर मिलेंगे* एक बार फिर देखिए।

लेकिन इससे भी आगे *फिर मिलेंगे* कथा है एक लड़की के दोहरे संघर्ष की। अपने ही शरीर से लड़ाई के साथ-साथ संघर्ष समाज से। और इस संघर्ष में तमन्ना के साथ है एक और लड़की, उसकी छोटी बहन! जिसे हमेशा तमन्ना ने सँभाला था आज वही तमन्ना को सँभालती है। लगता है कि तमन्ना हार रही है और तब आवाज़ आती है ...

"खुलके मुस्कुरा ले तू, दर्द को शरमाने दे
बूँदों को धरती पर, साज़ एक बजाने दे"

यहाँ कोई पुरुष नहीं है और शायद उसकी ज़रूरत भी नहीं है। ये एक स्त्री का स्त्री की ओर बढ़ाया गया हाथ है ...

"झील एक आदत है
तुझमें ही तो रहती है
और नदी शरारत है
तेरे संग बहती है
उतार ग़म के मोज़े
ज़मीं को गुनगुनाने दे

कंकरों को तलवों में
गुदगुदी मचाने दे"

प्रसून का ये स्त्री स्वर महत्त्वपूर्ण है। याद रखिए कि *फिर मिलेंगे* की निर्देशक रेवती थीं जो अपनी पहली फ़िल्म *मित्र-माई फ्रेंड* सिर्फ़ महिलाओं से बनी टीम के साथ बना चुकी हैं। और वैसे भी पुरुषों के वर्चस्व वाले 'बॉलीवुड' में महिला निर्देशक उंगलियों पर गिनी जा सकती हैं। ये कोई इत्तेफ़ाक नहीं है कि एक लड़की के विश्वास ना खोने की कहानी, उम्मीदों की महागाथा *ब्लैक* में बार-बार आने वाली कविताएँ प्रसून की ही लिखी हैं। ऊपर के गीत में मौजूद प्रसून के स्त्री स्वर का महत्त्व तब और साफ़ होगा जब आप इसके सामने जावेद अख़्तर का एक इससे मिलता-जुलता गीत रखेंगे ...

"मुझसे नाराज़ हो तो हो जाओ
खुद से लेकिन ख़फ़ा-ख़फ़ा ना रहो"

इस पुरुष स्वर के बरअक्स प्रसून का स्त्री स्वर है ...

"बाँसुरी की खिड़कियों पे सुर ये क्यों ठिठकते हैं
आँख के समन्दर क्यों बेवजह छलकते हैं
तितलियाँ ये कहती हैं अब वसंत आने दे
जंगलों के मौसम को बस्तियों पे छाने दे"

ये मानते हुए कि प्रसून जावेद की परंपरा में ही आते हैं, मैं ये भी कहना चाहूँगा कि प्रसून निश्चित रूप से अगली कड़ी हैं, दो क़दम आगे। जावेद जब पुरुष स्वर में लिखते हैं,

"आओ एक बात मैं कहूँ तुमसे
जाने फिर कोई ये कहे ना कहे
तुमको अपनी तलाश करनी है
हमसफ़र कोई रहे ना रहे
तुमको अपने सहारे जीना है
ढूँढती कोई आसरा ना रहो"

तो ये कुछ-कुछ 'महिला सशक्तीकरण' के सरकारी नारे का एक नफ़ीस-सा रूप लगता है। आज के स्त्री विमर्श को समझने वाले जान जाएँगे कि प्रसून का स्त्री स्वर किस तरह दो क़दम आगे है। और शायद यही सोच का अंतर जहाँ एक तरफ़ जावेद अख़्तर से *लक्ष्य* जैसी पुरुषसत्तात्मक युद्ध समर्थक फ़िल्म लिखवाता है जिसमें नायिका का काम है फ़ौज से भाग आए नायक की 'मर्दानगी' को धिक्कारना वहीं दूसरी ओर प्रसून शुभा मुद्गल की आवाज़ में गाते हैं।

"सीखो ना, नैनों की भाषा पिया
कह रहीं तुमसे ये ख़ामोशियाँ
सीखो ना, लब तो ना खोलूँगीं मैं समझो दिल की बोली
सुनना सीखो, तुम हवा को
सनन-सन सनन-सन कहती है क्या
पढ़ना सीखो, सलवटों को
माथे पे ये, बल रख के, लिखती हैं क्या
आहटों की है अपनी ज़ुबाँ
इनमें भी है एक दास्ताँ"

मुझे फिर कबीर का नारी स्वर याद आता है। कबीर भी साधना के गहनतम धरातल पर नारी की बानी बोलने लगते हैं। एक अजीब-सी बेचैनी और तड़प ...

"बालम आव हमारे गेह रे
तुम बिन दुखिया देह रे
सब कोई कहें तुम्हारी नारी, मोको यह संदेह रे
एकमेक है सेज ना सोवै, तब लागा कैसा नेह रे
अन्न ना भावै नींद ना आवै, गृह बन धरै न धीर रे
ज्यूँ कामी को काम प्यारा, ज्यूँ प्यासे कूँ नीर रे
है कोई ऐसा पर उपकारी, पिय सूँ कहे सुनाई रे
ऐसे हाल कबीर भए हैं, बिन देखे जीव जायी रे"

क्या ये साधना की युक्ति मात्र है? पुरुषोत्तम अग्रवाल *विचार का अनंत* में लिखते हैं, "कवि कबीर का नारी रूप इतना निश्छल, स्वाभाविक और वास्तविक है कि वह साधना की युक्ति मात्र होने से कुछ आगे निकल जाता है। यह रूप कबीर का 'एक अन्य' रूप नहीं, उनके आत्म का सर्वाधिक व्यंजक रूप है।"[8] और कबीर के 'आत्म का सर्वाधिक व्यंजक' यही नारी रूप गूँजता-सा है प्रसून की इन पंक्तियों में,

"डेरे डेरे डोलूँ बावरिया रे
जाने सजना हैं कौन नगरिया रे
एक झलक तेरी मिल जाए
ये पलक मेरी लग जाए

जिया को मेरे थोड़ा चैन आए रे
खड़का दे आके तू किवड़यिा रे"

वही बेचैनी, वही तड़प! गांधी कहते थे कि उनके भीतर एक स्त्री है। मुझे प्रसून के इस स्त्री स्वर को सुनते हुए आज के जिस कवि की याद आयी वे थे पवन करण। 'स्त्री मेरे भीतर' में वे स्त्री की निगाह से अपने आसपास देखते हैं प्रसून की तरह और जब तक हमारे फ़िल्म उद्योग में महिलाएँ गीतकार के रूप में जगह नहीं बना लेतीं हमें प्रसून के भीतर की इस स्त्री की ज़रूरत है। रू-ब-रू रोशनी है ... उस आग की खोज-तलाश में।

प्रसून के गीतों में 'लौ' एक प्रतीक के रूप में बार-बार आती है। 'रंग दे बसंती' में वे लिखते हैं,

"आँधियों से झगड़ रही है लौ मेरी
अब मशालों सी बढ़ रही है लौ मेरी"

एक संघर्ष की प्रतीक और यही संघर्ष *फिर मिलेंगे* में उम्मीद बन जाता है,
"मेरी लौ हवाओं से झगड़कर जी उठी
मेरे हर अंधेरे को उजाले पी गए
तूने हँस के मुझसे मुस्कराने को कहा
मेरे मन के मौसम गुलमोहर-से खिल गए"

लेकिन अन्ततः लौ का प्रतीक जुड़ता है 'आग' से। आग जो शायद हमारे भीतर कहीं हैं और जिसे प्रसून 'रंग दे बसंती' में ढूँढ़ रहे हैं,

"ऐ स्साला !
अभी-अभी हुआ यक़ीं, कि आग है मुझसे कहीं
हुई सुबह, मैं जल गया, सूरज को मैं निगल गया
रू-ब-रू रौशनी, रू-ब-रू रौशनी है"

आज ये गीत हर ज़ुबान पर है। मुझे लगता है कि आवाज़ दिल तक पहुँचेगी। मेरे दोस्त बदलने की कोशिश करेंगे 'जो-जैसा चला आ रहा है' उसे। ये एक ऐसी पीढ़ी की लड़ाई है जिसके ख़्वाब उससे छीन लिए गए हैं। ये ख़्वाबों को बनाने की लड़ाई है,

"जो गुमशुदा सा ख़्वाब था
वो मिल गया, वो खिल गया
वो लोहा था, पिघल गया

खिंचा-खिंचा मचल गया
सितार में बदल गया
रू-ब-रू रौशनी, रू-ब-रू रौशनी है"

मैं नाउम्मीद नहीं हूँ। 'The Da Vinchi Code' पढ़ने वाली और 'रंग दे बसंती' देखने वाली मेरी पीढ़ी को ख़ारिज करने वाले बहुत हैं पर मुझे उम्मीद है। मैं डॉ. हैरॉल्ड पिंटर के बहुचर्चित 'नोबल व्याख्यान' को उद्धृत करना चाहूँगा,

"जब हम किसी आईने में देखते हैं तो सोचते हैं कि जो छवि दिख रही है वह सटीक है, लेकिन रत्ती-भर खिसकते ही छवि बदल जाती है। वास्तव में हम कभी ना ख़त्म होने वाले प्रतिबिम्बों के सिलसिले को देख रहे होते हैं। लेकिन कभी-कभी लेखक को आईना तोड़ना पड़ता है क्योंकि सच आईने के पीछे खड़ा हमें घूर रहा होता है।"[9]

मेरी पीढ़ी इस आईने के पीछे खड़े सच को जानना चाहती है।

संदर्भ

1 हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, *बाणभट्ट की आत्मकथा*, पृष्ठ 63

2 वही, पृष्ठ 71

3 नामवर सिंह, *दूसरी परंपरा की खोज*, पृष्ठ 60

4 मुद्राराक्षस, *धर्मग्रंथों का पुनर्पाठ*, पृष्ठ 124

5 सत्यजित रे (सं.), *मुल्ला नसरूद्दीन की कहानियाँ*, पृष्ठ 54

6 पंकज बिष्ट, *लेकिन दरवाज़ा*, पृष्ठ 93

7 डॉ. रणजीत (सं.), *प्रगतिशील कविता के मील पत्थर*, पृष्ठ 50

8 पुरुषोत्तम अग्रवाल, *विचार का अनंत*, पृष्ठ 170

9 हैरॉल्ड पिंटर, (अनुवाद : रामकेश विश्वकर्मा), *फ़िलहाल,* जनवरी 2006, पृष्ठ 19